विष्णु

वैष्णवों एवं विष्णु के भक्तों के लिए यह देवता विश्व एवं समस्त पदार्थों का जन्मदाता है। हिन्दू धर्म की एक सर्वाधिक प्रसिद्ध सृष्टि सम्बन्धी कथा के अनुसार वह आदितम सिन्धु में सहस्र फणधारी शेषनाग पर शयन करता है। जब वह निद्रामग्न होता है तो उसकी नाभि से एक कमल की उत्पत्ति होती है और उस समय कमल में विश्वनियन्ता ब्रह्म का जन्म होता है जो संसार की सृष्टि करता है। एक बार जब सृजन हो जाता है, विष्णु की निद्रा भंग हो जाती है और वह उच्चतम स्वर्ग बैकुण्ठ में शासन करता है। सामान्य रूप से उसे चतुर्भुज रूप सघन नील रंग की आकृति में राजमुकुट धारण किये सिंहासनारूढ़ प्रदर्शित किया गया है। उसके हाथों में उसके प्रतीक शंख, चक्र, गदा और पद्म होते हैं और उसके वक्ष पर कुंचित केशों की एक ग्रन्थी 'श्रीवत्स' रहती है। वह वृहदाकार पक्षी गरुड़ पर, जो सामान्य रूप से अर्द्ध-मानवीय मुखाकृति में अंकित किया गया है, सवारी करता है। यह गरुड़ की कल्पना सम्भवतया प्राचीन पशु उपासना का अनुजीवित रूप है। जब हेलियोडोरस ने बेसनगर में स्तम्भ का निर्माण कराया, यह देवता पूर्व से ही विष्णु के एक प्रारम्भिक रूप वासुदेव से सम्बन्धित था। विष्णु की पत्नी लक्ष्मी अपने स्थान पर एक महत्त्वपूर्ण देवी है।

विश्वव्यापी देवता के रूप में विष्णु की स्थिति, अन्य देवता जिनकी अस्थाएँ अथवा जिनके अन्य रूप हैं, उतनी प्राचीन है जितनी भगवद्गीता :

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरु श्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥

(हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! अब मैं तेरे लिए अपनी दिव्य विभूतियों को प्रधानता से कहूँगा; क्योंकि मेरे विस्तार का अन्त नहीं है।)

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

(मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ।)

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्म विद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥

Scanned by TapScanner

(और हे अर्जुन ! सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य भी मैं ही हूँ तथा मैं विद्याओं में अध्यात्म विद्या अर्थात् ब्रह्म विद्या एवं परस्पर विवाद करने वालों में तत्त्वनिर्णय के लिए किया जाने वाला वाद हूँ।)

अक्षराणामकारोऽस्यि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥

(मैं अक्षरों में अकार, समासों में द्वन्द्व तथा अक्षय काल अर्थात् काल का भी महाकाल और विराट स्वरूप सबका धारण पोषण करने वाला भी मैं ही हूँ।)

द्यूतं छलयतामास्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥

(मैं छल करने वालों में जुआ और प्रभावशाली पुरुषों का प्रभाव हूँ तथा मैं जीतने वालों का विजय हूँ और निश्चय करने वालों का निश्चय एवं सात्विक पुरुषों का सात्विक भाव हूँ।)

यच्चापि सर्व भूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(और हे अर्जुन, जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है, वह भी मैं ही हूँ। क्योंकि ऐसा कोई चर और अचर नहीं है जो मेरे से रहित हो, इसलिए सब कुछ मेरा ही स्वरूप है।)

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

(इसलिए हे अर्जुन, जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस उसको तू मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई जान।) **—गीता, अध्याय 11**

यद्यपि उसके प्रतिरूप शिव के चरित्र का एक अपेक्षाकृत क्रूर एवं भयावह पक्ष है, किन्तु विष्णु को सामान्य रूप से पूर्णतः लोकहितकारी स्वीकार किया गया है। यह देवता निरन्तर संसार के मंगल-कार्यों में निरत रहता है और इस विचार से अंशतः अथवा पूर्णतः यदाकदा उसने अवतार लिये हैं। इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम पाठ भगवद्गीता में आया है जिसमें कृष्ण ने स्वयं को सतत क्रियाशील सर्वोपरि देव-देव अवतार प्रकट किया है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(मेरा जन्म प्राकृत मनुष्यों के समान नहीं है, मैं अविनाशी स्वरूप, अजन्मा होने पर भी तथा तब भूत-प्रणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके योगमाया से प्रकट होता हूँ।)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

(हे भारत ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, जब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ।)

परित्राणायं साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म-संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(क्योंकि साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिए तथा धर्म-स्थापन करने के लिए, मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।) **—गीता, अध्याय 4**

सर्वाधिक लोकप्रिय विभाजन के अनुसार विष्णु के अवतार दस हैं। वे देवता तथा अधिनायक जिनसे उस सूची का निर्माण होता है, वैष्णव धर्म ने भिन्न-भिन्न समयों में ग्रहण किये हैं, किन्तु ग्यारहवीं शताब्दी तक सभी सम्मिलित कर लिये गये थे। यह सम्भव हो सकता है कि वैष्णवों का यह अवतारवाद बौद्धों तथा जैनियों के निश्चयरूपेण पूर्व-प्रमाणित बौद्धों तथा तीर्थंकरों के सिद्धान्त का कुछ ऋणी हो। अवतार पूर्णावतार भी हो सकता है और अंशावतार भी; क्योंकि "जो कुछ भी शक्तिमान, भाग्यपूर्ण तथा दृढ़ है मेरे ऐश्वर्य के एक अंश

Scanned by TapScanner

है प्रसन्न है।" इस भाव के अनुसार प्रत्येक देवता अथवा महान् व्यक्ति विष्णु का अवतार माना
ता। इस प्रधान अवतार किसी न किसी रूप में अधिक विशिष्टता लिए हुए हैं क्योंकि यह विश्वास व्यक्त
किया। वे अवतार निम्नलिखित हैं :

(1) **मत्स्यावतार**—जब पृथ्वी विश्वव्यापी जल-प्लावन से आप्लावित हुई तो विष्णु ने मत्स्य का शरीर
धारण किया जिसने आसन्न भय से प्रथम मनु को सावधान किया और तदनन्तर मनु को, उनके परिवार को
और सात ऋषियों को एक जलपोत द्वारा, जो उनके सिर पर निकले हुए सींग से रज्जु द्वारा आबद्ध था, सुरक्षित
बचा ले गये। इस जल-प्लावन से उन्होंने वेदों की भी रक्षा की। मत्स्य कथा सर्वप्रथम ब्राह्मणों में दृष्टिगोचर
होती है और नूह-नौका की कल्पना से सेमेटिक प्रभाव का संकेत मिला है। मत्स्यावतार की व्यापक रूप में
कभी पूजा नहीं की गयी।

(2) **कूर्मावतार**—जल-प्लावन में अनेक स्वर्गीय बहुमूल्य पदार्थ नष्ट हो गये जिनमें अमृत भी था जिससे
देवता अपने यौवन की रक्षा करते थे। विष्णु ने एक बड़े कूर्म का रूप धारण किया और विश्व सिन्धु के तल
में प्रविष्ट हुए। उनके पृष्ठ पर देवताओं ने मंदराचल रखा और सर्पराज वासुकि को पर्वत में लपेटकर उसी
प्रकार समुद्र-मन्थन किया जिस प्रकार दूध विक्रेता मक्खन के हेतु दूध का मन्थन करता है। समुद्र के मन्थन
करने पर अमृत एवं विभिन्न अन्य रत्न प्राप्त हुए जिनमें देवी लक्ष्मी भी थी। यह कथा सम्भवतया अति प्राचीन
प्राग्य कथा का अंश है, किन्तु कूर्म के रूप में विष्णु की कल्पना बाद की है और साहित्य में इनका पुनः-पुनः
उल्लेख हुआ है। इस अवतार की वास्तविक महत्ता अत्यल्प थी।

(3) **वराहावतार**—राक्षस हिरण्याक्ष ने एक बार पुनः पृथ्वी को विश्व सिन्धु के अतल में फेंक दिया।
विष्णु ने एक वृहदाकार वराह का रूप धारण किया, राक्षस का वध किया और अपने दाँत पर पृथ्वी को उठा
लिया। यह कथा ब्राह्मणों की ओर ध्यान आकृष्ट करती है, परन्तु सम्भवतया वराह की प्राचीन अनार्य उपासना
पद्धति के द्वारा इसका विकास हुआ है। गुप्तकाल में वराह अवतार की उपासना भारत के कुछ भागों में
महत्वपूर्ण थी।

(4) **नृसिंहावतार**—एक अन्य राक्षस हिरण्याकशिपु ने ब्रह्मा से एक वरदान प्राप्त कर लिया था कि
वह न दिन में मरे, न रात में; न उसे कोई देवता मार सके, न मनुष्य और न पशु। इस प्रकार आत्म सुरक्षा
का आश्वासन प्राप्त करके उसने देवताओं तथा मनुष्यों दोनों पर जिनमें उसका अपना पुत्र प्रहलाद भी
सम्मिलित था, अत्याचार करना प्रारम्भ किया। जब प्रहलाद ने विष्णु से सहायता की याचना की तो संध्या
समय जब न दिन था, न रात थी, राक्षस के राजभवन के स्तम्भ को फाड़कर विष्णु एक ऐसे रूप में प्रकट
हुए जिसका आधा भाग मनुष्य एवं आधा भाग सिंह का था और हिरण्यकशिपु का वध किया। एक छोटे
सम्प्रदाय द्वारा नृसिंह की उपासना इष्ट देवता के रूप में की गयी और प्रायः मूर्तिकला में उसको अभिव्यक्त
किया गया है।

(5) **वामनावतार**—एक राक्षस बलि ने संसार का आधिपत्य प्राप्त कर लिया और तप करना आरम्भ
किया जिससे उसकी अलौकिक शक्ति की ऐसी वृद्धि हुई कि उसने देवताओं तक को पीड़ित किया। विष्णु
वामन के रूप में उसके सम्मुख प्रकट हुए और उससे इतनी भूमि की याचना की जितनी वह अपने तीन चरणों
में ले सकें। जब वरदान स्वीकृत हो गया तो विष्णु का आकार विशाल हो गया और तीन चरणों में पृथ्वी,
आकाश तथा अन्तराल को नाप लिया। राक्षस के लिए भूमि के नीचे के क्षेत्र अवशिष्ट रह गये। विष्णु के ये
तीन चरण इतने प्राचीन हैं जितना प्राचीन ऋग्वेद है, परन्तु अन्य लोकप्रिय तत्त्व कथा में बाद को सम्मिलित
कर दिये गये।

(6) **परशुरामावतार** (परशु धारण किये हुए राम)—विष्णु ने एक ब्राह्मण यमदग्नि के पुत्र रूप में मानव
शरीर ग्रहण किया। जब उसके पिता को एक दुष्ट राजा कार्तवीर्य ने ठग लिया तो परशुराम ने कार्तवीर्य का
वध कर दिया। प्रतिशोध रूप में कार्तवीर्य के पुत्रों ने यमदग्नि को मार डाला जिसने उपरान्त क्रोधावेश में
परशुराम ने समस्त क्षत्रिय पुरुषों का वध कर डाला और ऐसा इक्कीस बार किया। यद्यपि साहित्य में परशुराम
का बहुधा उल्लेख है, किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उनकी कभी पूजा की गयी हो।

Scanned by TapScanner

(7) **रामावतार** (अयोध्या के राजकुमार तथा रामायण के प्रधान नायक)—विष्णु ने राक्षस रावण की यातनाओं से संसार को मुक्त कराने हेतु इस रूप में अवतार लिया। यूरोपीय राम की कथा को साहित्य का विषय मानते हैं, धर्म का उतना नहीं और कथा का वर्णन बाद के अध्यायों में किया जायेगा। सम्भव है राम एक राजा हुए हों जो ईसा पूर्व आठवीं या सातवीं सदी में रहते थे और कहानी के प्राचीनतम रूप में उनके साथ किसी प्रकार ईश्वरीय आरोप सम्बद्ध नहीं थे। यद्यपि वे कृष्ण से पूर्व के अवतार माने जाते थे, उनकी उपासना का विकास कृष्ण के उपरान्त हुआ और इस समय तक वे किसी प्रकार महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होते। राम को सामान्यतया श्याम वर्ण में धनुष-बाण धारण किये व्यक्त किया गया है। उनकी स्वामिभक्त पत्नी सीता, जो पत्नयोचित भक्ति का प्रतिरूप हैं, उनके साथ रहती हैं और प्रायः उनके तीन सत्य भाव बन्धु लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न तथा राम के मित्र और सहायक हनुमन्त भी साथ प्रदर्शित किये गये हैं। अपने भक्तों के लिए राम कोमलता, सत्यनिष्ठपति, संकटों से सशक्त पथ-प्रदर्शक तथा न्यायप्रिय परोपकारी राजा के समवेत आदर्श हैं। यह महत्त्वपूर्ण है कि राम की उपासना वास्तव में मुस्लिम आक्रमणों के पश्चात लोकप्रिय हुई।

(8) **कृष्णावतार**—निस्सन्देह रूप से विष्णु के सभी अवतारों में कृष्णावतार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अपने अन्तिम रूप में इनकी कथा बहुत बड़ी है और यहाँ पर उसकी संक्षिप्त रूपरेखा मात्र दी जा सकती है।

कृष्ण का जन्म मथुरा में यादव कुल में हुआ। उनके पिता वासुदेव तथा उनकी माँ देवकी थीं जो उस समय के शासक राजा कंस की बहन थीं। यह भविष्यवाणी की गयी कि देवकी के आठवें पुत्र से कंस का वध होगा। अतएव कंस ने देवकी के सभी बच्चों को मारना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु कृष्ण और उनके बड़े भाई बलराम सुरक्षित बचा लिये गये और गोपनन्द तथा उनकी पत्नी यशोदा ने अपने शिशुओं के रूप में उनका पालन किया। यह सुनकर कि बालक उसके पंजे से बच निकले हैं, कंस ने अपने राज्य के समस्त बालकों के वध की आज्ञा दी, परन्तु दोनों बालकों को नन्द छिपाकर निकाल ले गये। पहले वे ब्रज और तब वृन्दावन को गये। ये दोनों नगर मथुरा से दूर नहीं हैं और कृष्ण के निमित्त आज भी परम पवित्र माने जाते हैं।

अपने शैशव में देवता के अवतार कृष्ण ने अनेक चमत्कार दिखाये। उन्होंने राक्षसों का वध किया और अपनी उँगली पर गोवर्धन पर्वत उठाकर तूफान से गऊओं और गोपों की रक्षा की। उन्होंने शिशु सुलभ खिलवाड़ के बहुत-से कार्य भी किये जैसे यशोदा का मक्खन चुराना। अपनी कुमारावस्था में गोपों की पत्नियों और पुत्रियों (गोपियों) से उनके अनेक प्रणय-व्यवहार रहे। कृष्ण ने गोपिकाओं के नृत्य की वंशी में संगति की। सुन्दरी राधा उन्हें सर्वाधिक प्रिय थीं।

परन्तु उनके यौवन के दिन शीघ्र ही समाप्त हो गये। कंस ने उन्हें खोज लिया और उनके जीवन को समाप्त करने के और अधिक प्रयत्न किये। कृष्ण ने तब अपने उस ग्रामीण गोचारण के जीवन का परित्याग कर दिया और अपने दुष्ट मामा की ओर ध्यान दिया। उन्होंने कंस का वध किया तथा मथुरा के राज्य को छीन लिया, परन्तु कंस के ससुर, मगध के राजा जरासंध और उत्तर-पश्चिम के एक अज्ञात नाम यवन राजा के कारण विवश होकर उन्हें अपना राज्य छोड़ना पड़ा। कृष्ण ने अपने अनुयायियों के साथ काठियावाड़ में द्वारिका को अपनी राजधानी बनाया जहाँ उन्होंने विदर्भ राज्य की पुत्री रुक्मिणी को अपनी पटरानी बनाया और सोलह हजार पत्नियाँ तथा एक लाख अस्सी हजार पुत्रों की सम्पत्ति एकत्र की। इस अवस्था के उनके साहसपूर्ण कार्यों में समस्त भारत के राक्षसों और दुष्ट राजाओं का विनाश सम्मिलित है। सम्पूर्ण महाभारत में कृष्ण पाँच पाण्डवों के सतत मित्र और परामर्शदाता के रूप में प्रदर्शित किये गये हैं। उन्होंने भगवद्गीता का महोपदेश अर्जुन को युद्ध से पूर्व प्रदान किया जो महाकाव्य की कथा का केन्द्र है।

पाण्डवों के कुरु राज्य पर सिंहासनारूढ़ हो जाने के उपरान्त कृष्ण द्वारिका को लौट आये, जहाँ नगर को आशंकामय अपशकुनों से घिरा देखा। यादव प्रधान आपस में झगड़े करते थे। कृष्ण ने दुर्दिन को टालने की आशा में तीव्र मद्यपेयों का निषेध कर दिया, परन्तु उत्सवों के अवसर पर यह निषेध शिथिल कर दिया जाता था। यादव प्रधानों में असन्तोष की वार्ता चलने लगी और शीघ्र ही समस्त नगर में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। अपने समस्त देवत्व के साथ भी कृष्ण उस उपद्रव को शान्त करने में कुछ भी न करे सके और सभी उसमें सम्मिलित हो गये। उनका पुत्र प्रद्युम्न उनकी दृष्टि के सामने मारा गया और उनका स्वामिभक्त भाई

Scanned by TapScanner

बलराम घायल होकर काल-कवलित हुआ। लगभग सभी यादव प्रधान मारे गये। कृष्ण एक अपार अवसाद से परिपूर्ण होकर नगर के समीप वन में घूमते रहे और एक बार जब वह अपने मित्रों और परिवार की हानि पर बैठे विचार कर रहे थे, एक आखेटक ने झाड़ियों के बीच से उनको देखा और भूल से उनको हिरण समझ लिया एक तीर उनकी एड़ी में घुसा। एचिलीज की भाँति यह मर्मस्थल उनका प्राणस्थान था। तुरन्त ही उनकी मृत्यु हो गयी। द्वारिका नगरी समुद्र के गर्भ में समा गयी।

इस कथा का निर्माण करने वाले अनेक तथ्यों में से कृष्ण का नायक रूप प्राचीनतम था जिसे रूढ़िवादी परम्परा में स्थान दिया गया। देवकी का एक पुत्र कृष्ण उपनिषदों में आत्मा के नवीन सिद्धान्त का अध्ययन करता हुआ उल्लिखित किया गया है और यह निश्चित प्रतीत होता है कि नायक देवता की कहानी का कुछ ऐतिहासिक आधार है, और स्पष्ट ही अनेक नायकों और अनेक युगों की भारतवर्ष के अनेक भागों की कहानियाँ कृष्ण की कथा में मिश्रित हो गयी हैं जिनमें से कुछ ऐसी हैं, जिनकी विजेता नायक के सामान्य चरित्र से कोई संगति नहीं बैठती—जैसे मथुरा से उनका अपमानपूर्ण पलायन। कहानी के अन्य तथ्य जैसे यादवों का विनाश और कृष्ण की मृत्यु, महान नगर का समुद्र के गर्भ में चला जाना ये कल्पनाएँ यूरोपीय महाकाव्य साहित्य में सुप्रचलित हैं। परन्तु भारत के साहित्य में अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होतीं। साथ ही वेदों में भी इनके कोई संकेत प्राप्य नहीं हैं। एक देवता की मृत्यु की कल्पना जो प्राचीन समीपवर्ती पूर्व में इतनी बहु-प्रचलित है, भारतीय पुराण साहित्य में अन्यत्र कहीं प्राप्य नहीं होती। कृष्ण का दुष्ट मामा कंस हेराड और सम्भवतया परसियस के क्रूर पितामह एक्रीसियस को प्रतिध्वनित करता हुआ प्रतीत होता है। इस कथा का कुछ भाग अति प्राचीन कथाओं से उत्पन्न हुआ माना जा सकता है जो आर्य योद्धाओं के द्वारा उनके भारतवर्ष प्रवेश से पूर्व एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी तक विकसित होती हुई आती गयीं। अन्य भाग स्वदेशीय हैं और इसके अतिरिक्त अन्य भाग सम्भवतया पश्चिम से आयी हुई कहानियों के कुछ छटे हुए उत्तम पाठों से प्रेरित हैं।

गोचारण और शृंगार की अवस्था के कृष्ण, निश्चय ही नायक रूप कृष्ण से भिन्न हैं। कृष्ण का अर्थ होता है काला और कृष्ण को सामान्य रूप से उसी रंग में प्रदर्शित किया गया है। सम्भवतया गोप कृष्ण का प्राचीनतम स्पष्ट उल्लेख प्रारम्भिक तामिल कविताओं में है जिनमें कृष्ण अपनी बंशी बजाता है और गोपिकाओं से क्रीड़ा करता है। सम्भव है मूल रूप में वह प्रायद्वीप का एक उर्वरण शक्ति देवता रहा हो, जिसकी उपासना पद्धति गोपों की परिव्रजनशील गतियों के द्वारा उत्तर को ले जायी गयी हो। ईसवी शतक के प्रारम्भिक वर्षों में पश्चिम-दक्खिन में जो एक जाति आभीर प्रकट हुई उसके सम्बन्ध में यह विचार है कि इस जाति ने कृष्ण गोविन्द[1] की उपासना के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योग दिया। कृष्ण गोविन्द (गोपों का स्वामी) इस रूप में देवता का एक प्रचलित उपनाम है।

कुमार कृष्ण के शृंगारपूर्ण आचरण विशाल शृंगारपूर्ण साहित्य के मूल उद्गम रहे हैं, जिनमें अनावश्यक रूप से एक धूमिल धार्मिक तत्त्व निहित है। निश्चय ही, जो कुछ भी हो, कृष्ण का गोपिकाओं से प्रेम, परमात्मा और आत्माओं के प्रेम का प्रतीक है। कृष्ण की वंशी के स्वर जो गोपिकाओं को अपने पतियों की शैय्या छोड़कर चन्द्रमा के प्रकाश में उनके साथ नृत्य का आमन्त्रण देते हैं, ईश्वरीय शब्द के प्रतिनिधि हैं जो मनुष्य को सांसारिक वस्तुओं का त्याग करके ईश्वरीय प्रेम के आनन्द की ओर अभिमुख होने का आवाहन करता है। इसी रूप में यहूदियों और ईसाइयों ने एक साथ 'Song of Songs' की व्याख्या की है और समस्त धर्मों के अनेक रहस्यवादी कवियों ने अपने आध्यात्मिक अनुभवों की इसी प्रकार अभिव्यक्ति की है। अपने श्रेष्ठ शृंगार के अतिरिक्त ईश्वरीय गोप की कथा ने विशाल धार्मिक काव्य का सृजन किया और अनेक पवित्र आत्माओं को प्रेरणा दी है।

शिशु देवता (कृष्ण का बाल रूप) कृष्ण की कथा का तीसरा तत्त्व है। यह निश्चय ही उत्तरकालीन अंश है जिसे कथा ने आत्मसात कर लिया है और इसका उदय स्थल सर्वथा अज्ञात है। क्या आंशिक रूप में इसकी प्रेरणा उन कहानियों से प्राप्त हुई है जो ईसाई व्यापारी तथा निस्टोरियन धर्म प्रचारक भारत के

---

1 'गोविन्द' सम्भवतया एक प्राकृत शब्द है जो अपने तत्सम रूप में संस्कृति में मिल गया। उसका शुद्ध संस्कृत रूप 'गोपेन्द्र' होगा। रूढ़िवादी धारणा के अनुसार यह शब्द शुद्ध संस्कृत का है, इसका अनुवाद "गायों का पता लगाने वाला होगा।"

Scanned by TapScanner

पश्चिमी तट पर प्रारम्भिक मध्ययुग में लाये ? अधिकांश विद्वान यह स्वीकार न करेंगे परन्तु हम इस सम्भावना का एकदम तिरस्कार नहीं करते। जो भी स्थिति हो बाल कृष्ण की कथा ने जिन्हें उत्तरकालीन मूर्तिकला में स्थूल शिशु के रूप में हाथों-पैरों के बल रेंगते हुए प्रदर्शित किया गया है, देवता को दुर्लभ पूर्णता प्रदान की है। उन्होंने नायक के रूप में आराधक की एक स्वर्गीय पिता तथा अग्रज की आवश्यकता की पूर्ति की। एक कुमार गोप के रूप में वे एक अलौकिक प्रेमी थे और शिशु के रूप में एक पुत्र। बाल कृष्ण की उपासना में भारतीय नारी जाति की सहृदय मातृभावना को एक विशेष आकर्षण प्रतीत हुआ और आज भी भारत की भोली नारियाँ जब उस पारलौकिक शिशु की पूजा करती हैं, अपनी अपार शक्ति की विद्यमानता में कितना नटखट—तो स्वयं को 'ईश्वरीय माता' (Mother of God) कहती हैं।

वासुदेव जो ईसा से पूर्व की प्रारम्भिक शताब्दियों में पश्चिमी भारत का एक लोकप्रिय देवता था, पूर्व से कृष्ण से एकरूप हो गया था और यह सम्भव हो सकता है कि जिस नाम की भ्रमवश पितृरूप में व्याख्या की गयी वह अन्त में कृष्ण के पिता वासुदेव के रूप में परम्परागत हो गया। अन्य मूलतः स्वतन्त्र देवता भी किसी न किसी रूप में कृष्ण से सम्बन्धित हो गये। इनमें से प्रधान उनके बड़े भाई बलराम थे जिन्हें हलायुध और संकृष्ण कहा जाता है। अपने कन्धों पर काष्ठ हल धारण किये हुए बलराम प्रारम्भ में एक कृषि देवता थे। किंवदन्ती के अनुसार वे बड़े मद्यप थे और उनमें सुरापान किये हुए वृद्ध व्यक्ति की सी कुछ विशेषताएं थीं। किसी समय उनके लिए मन्दिर थे, किन्तु मध्ययुग में उनका महत्त्व क्षीण हो गया और कृष्ण के महत्त्व की वृद्धि हुई। कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न, उनके पौत्र अनिरुद्ध तथा उनके मित्र पाण्डव शूर अर्जुन की उपासना का महत्त्व सामान्य था। कृष्ण की प्रधान सहगामिनी राधा थीं जो उनके यौवन की प्रेयसी थीं और उत्तरकालीन मध्ययुग में कृष्ण के साथ बहुधा जिनकी पूजा प्रचलित थी। उनकी पटरानी रुक्मिणी को भी कुछ समादर प्राप्त था।

(9) बुद्ध विष्णु के अन्तिम अवतार थे। अधिकांश आध्यात्मवादियों के अनुसार दुष्टों को भ्रम में डालकर वेदों की उपेक्षा कराकर उनकी निन्दा निश्चित करने के हेतु विष्णु ने बुद्ध का रूप ग्रहण किया। जयदेव के गीति गोविन्द में जिसमें अवतारों की प्राचीनतम तालिका उपलब्ध है, यह उल्लेख है कि पशुओं के प्रति दया की भावना से विष्णु ने बुद्ध का रूप धारण किया जिससे रक्त रंजित पशु बलि प्रथा समाप्त हो जाये। इससे सम्भवतया बुद्ध के अवतार की वस्तु-पृष्ठभूमि का अनुसन्धान सूत्र समाप्त होता है। वह सूची में अन्य देवताओं की भाँति सम्मिलित कर लिये गये जिससे वैष्णव सम्प्रदाय में विरोधी तत्त्वों का आत्मसात हो सके। अभी कुछ पिछले दिनों तक गया का बौद्ध मन्दिर हिन्दुओं के अधिकार में था और बुद्ध की उपासना वहाँ हिन्दुओं द्वारा देवता के रूप में होती थी, परन्तु व्यापक रूप से बुद्ध अवतार की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था।

(10) **कल्कि अवतार**—कल्कि अवतार होना अभी शेष है। इस कलियुग के अन्त में विष्णु मनुष्य के रूप में एक श्वेताश्व पर समारूढ़ प्रज्ज्वलित खड्ग हाथ में लिये हुए पुनः स्वर्णयुग की स्थापना करेंगे। वैष्णवों की कथा-परम्परा में यह एक नवीन योग है और साहित्य एवं मूर्तिकला में इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है यद्यपि यह कहा जाता है कि कल्कि अवतार को कुछ हिन्दुओं ने वास्तव में में सत्य माना है और आगमन की उसी प्रकार कामना करते हैं जैसे पुरानी पीढ़ी के ईसाई दूसरे ईसामसीह के आने की प्रतीक्षा करते हैं। इसके समकक्षीय ईसाई कथाएँ प्राप्त हैं, विशेषतया 'ज्ञान की पुस्तक' के अश्वारोहियों में, परन्तु सम्भव है कि कल्कि की प्रेरणा का मुख्य स्थूल बौद्ध धर्म रहा है जिसने वैष्णवों के कल्कि अवतार की कल्पना से बहुत पूर्व ही मैत्रेय बुद्ध के आगमन की शिक्षा दी थी। सम्भव है इस पर निराधार कथा के निर्णय में जोराष्ट्रियन विचारधारा ने भी सहयोग दिया है।

शिव

विष्णु के विभिन्न रूपों के समान ही लगभग शिव भी लोकप्रिय थे, जिनका विकास भयंकर वैदिक देवता रुद्र से हुआ था तथा जिनमें अनार्य उर्वरण देवता के तत्त्व सन्निहित हो गये थे। यद्यपि विकसित शैव सम्प्रदाय ने अपनी रुचि के देवता को पूर्णरूप से सदाचारी एवं स्वर्गस्थ संरक्षक पिता के रूप में स्वीकार कर लिया था, शिव का चरित्र विष्णु से विपरीत द्विसत्तात्मक है। वह 'युद्ध-स्थल,' श्मशान भूमि एवं चतुष्पथ जैसे

Scanned by TapScanner

भयानक स्थानों में गुप्त रूप से निवास करते हैं जो भारत में यूरोप की भाँति ही अत्यन्त अशुभ माने जाते हैं। वह मानव मुण्डों की माला पहनते हैं और भूतों, दुष्टात्माओं तथा प्रेतों से परिवृत रहते हैं। वे मृत्यु एवं महाकाल हैं जो समस्त पदार्थों का नाश करते हैं।

परन्तु वे एक बड़े तपस्वी भी हैं और सामान्यतः तपस्वियों के संरक्षक देवता हैं। हिमालय की उच्च ढालू उपत्यकाओं में कैलास पर्वत पर महायोगी शिव व्याघ्र चर्म पर ध्यानावस्थित आसन ग्रहण करते हैं और उनके ध्यान के द्वारा इस संसार की स्थिति रहती है। इस रूप में वे लम्बी जटाओं का जूट धारण किए हुए, जिसमें अर्द्धचन्द्र संलग्न होता है, चित्रित किये जाते हैं और जटा जूट से पावन गंगा की धारा प्रवाहित होती है। उनके मध्य मस्तक में एक तृतीय नेत्र है जो उनके श्रेष्ठ ज्ञान और दूरदर्शिता का प्रतीक है। उनका कण्ठ असिताभ है जिस पर समुद्र मन्थन से अन्तिम प्राप्त वस्तु महाहलाहल का चिह्न है, जिसका शिव ने अन्य देवताओं की विनाश से रक्षा करने के हेतु स्वयं पान कर लिया था। सर्प जिनके कि वे स्वामी है उनकी ग्रीवा एवं भुजाओं में लिपटे रहते हैं। उनका शरीर भस्मावृत रहता है। यह तपस्वियों की एक प्रचलित क्रिया है। उनके एक पार्श्व में उनका शस्त्र त्रिशूल है और उनके समीप उनकी सुन्दरी पत्नी पार्वती तथा उनका वाहन नन्दी वृषभ है।

यद्यपि इस रूप में शिव निरन्तर ध्यानमग्न रहते हैं, वे अपनी दैवी शक्ति से अपने व्यक्तित्व का विभाजन कर सकते हैं। वे केवल रहस्यमयी शान्ति के ही देवता नहीं हैं प्रत्युत नृत्य के स्वामी (नटराज) भी हैं। शिव का यह रूप तामिल प्रदेश में विशेषतः लोकप्रिय है जो धार्मिक नृत्य एवं आदितम परम्परा का अंग रहा है। अपने स्वर्गीय स्थल कैलास पर्वत पर अथवा अपने दक्षिणी निवास चिदम्बर मन्दिर या तिल्टाई (पाण्डिचेरी से 50 मील दूर समुद्र तट के समीप) में जो रहस्यात्मक रूप से कैलास के समान है, शिव नृत्य करते हैं। उन्होंने कुछ विभिन्न प्रकार के नृत्यों की रचना की है जो संख्या में 108 से कम नहीं हैं। उनमें से कुछ शान्त एवं कोमल हैं अन्य भयानक, अबाधित तथा विकराल हैं। इन दूसरे प्रकार के नृत्यों में ताण्डव सर्वाधिक प्रसिद्ध है जिसमें क्रुद्ध देवता, शिव अपने परिचारकगणों से परिवृत्त एक अनियन्त्रित रौद्र लय बजाते हैं जो काल चक्र की समाप्ति के समय सृष्टि का विनाश कर देती हैं।

एक अन्य रूप जिसमें इस देवता की पूजा की जाती है दक्षिण मूर्ति के नाम से विख्यात है। इस स्थिति में वे एक सार्वभौम शिक्षक हैं और एक अनौपचारिक मुद्रा में उन्हें अंकित किया गया है। उनका एक चरण भूमि पर है और द्वितीय उस सिंहासन पर जहाँ वे बैठते हैं। साथ ही उनका एक हस्त इस प्रकार उठा हुआ है मानो वे कुछ व्याख्या कर रहे हों। शिव का यह रूप सम्भवतः बौद्ध प्रेरणा का कुछ ऋणी है।

परन्तु शिव की पूजा लिंग के रूप में हुआ करती थी और आज भी होती है। यह सामान्य रूप से एक छोटा वर्तुलाकार स्तम्भ है जिसका शिरोभाग गोल होता है जो स्वतः भारतीय सभ्यता से भी अधिक प्राचीन उपासना पद्धति का अति जीवित रूप है। हड़प्पा के अवशेषों में शिश्नाकृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। प्रारम्भिक तामिल साहित्य में संस्कार सम्बन्धी स्तम्भों की रचना का उल्लेख मिलता है जो लिंग प्रतीक से प्रतीत होते हैं। लिंगोपासना जो सभी कालों में कुछ अनार्य लोगों द्वारा ग्रहीत रही, ईस्वी युग के प्रारम्भ के समीप हिन्दू धर्म में संयुक्त कर ली गयी, यद्यपि प्रारम्भ में वह इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रही। ऋग्वेदीय प्राचीनता के युग तक पर्वतीय देवता रुद्र पशुओं तथा वनस्पतियों से सम्बन्धित था। मोहनजोदाड़ो का शृंगयुक्त लिंग रूप देवता (Ithyphallic) मानवों, पशुओं तथा वनस्पतियों की पुनरुत्पत्ति के संरक्षक के रूप में भली प्रकार शिव का अनुरूप हो सकता है। इस रूप में वे पशुपति कहलाते हैं और दक्षिण भारत में बहुधा चतुर्भुज मानव की आकृति में उन्हें प्रदर्शित किया गया है जिसमें एक हाथ आशीर्वादात्मक मुद्रा में और दूसरा उन्मुक्त है, मानो वे कोई वरदान दे रहे हों। तीसरे हाथ में एक कुल्हाड़ी और चतुर्थ कर की अंगुलियों से एक छोटा मृग उछल रहा है।

कुछ शैव सम्प्रदाय यह घोषणा करते हैं कि शिव ने अनेक अवतार लिये हैं, किन्तु वे सब विष्णु के अवतारों की अनुकृतियाँ हैं और शैव विचारधारा में उनका कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं रहा है। जो भी हो समय-समय पर शिव ने मनुष्य जन्म में स्वयं को प्रकट किया है अथवा राक्षसों के विनाश एवं तपस्वियों की परीक्षा के हेतु अस्थायी अवतार ग्रहण किये हैं। उनके विषय में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं जिनमें से कुछ

Scanned by TapScanner

तो शिव अभिनन्दन से बिलकुल भी सम्बन्धित नहीं हैं। इन कथाओं में से हिमालय के मानवीकृत रूप की पुत्री पार्वती के साथ शिव के विवाह की कथा सर्वाधिक प्रचलित है।

"तारक राक्षस ने देवताओं को उत्पीड़ित कर रखा था और यह भविष्यवाणी की गयी थी कि शिव एवं पार्वती की सन्तान के द्वारा उसका नाश होगा, किन्तु शिव निरन्तर ध्यानावस्थित रहते थे और उनके सन्तानोत्पत्ति की आशा देवताओं को वस्तुतः धूमिल प्रतीत होने लगी। किसी प्रकार हिमालय की सुन्दरी पुत्री पार्वती को उनकी आज्ञा पर शिव की सेवा में भेजा गया, परन्तु शिव का ध्यान आकृष्ट करने के लिए उनके द्वारा अनेक प्रयत्नों के उपरान्त भी शिव ने पार्वती पर कोई दृष्टिपात न किया तथा उनके इस प्रयत्न की अवधि में प्रेम का देवता काम जिसने शिव को जीतने में पार्वती की सम्पूर्ण सहायता की, शिव के त्रिनेत्र की ज्वाल-मालाओं से भस्म हो गया। अन्ततः पार्वती ने शिव के तप में उनका अनुसरण करने का निश्चय किया। अपने आभूषणों को पृथक कर वह एक समीपस्थ शैल शिखर पर तपस्विनी बन गयीं। इस वेष में शिव ने उन्हें देखा और उनके प्रति प्रेमासक्त हुए। वे एक महान समारोह संस्कार के साथ विवाह सम्बन्ध में आबद्ध हो गये। इस उत्सव में समस्त देवताओं ने भाग लिया और शीघ्र ही पार्वती ने युद्ध के देवता 'स्कन्द' को जन्म दिया, जिसने वय प्राप्त होने पर राक्षस 'तारक' का नाश किया।"

दक्षिण में भी शिव एवं मदुरी के पाण्ड्यराज की पुत्री मीनाक्षी के विवाह की एक समान कथा प्रचलित है। यह घटना दक्षिण भारत के एक सर्वाधिक प्रख्यात एवं महान मन्दिर में उत्सव के रूप में सम्पन्न की जाती है।

विष्णु एवं शिव के सम्बन्ध

यदि पूर्व से नहीं तो ईसाब्द के प्रारम्भ से ही शिक्षित हिन्दुओं में से अधिकांश या तो वैष्णव थे या शैव। इसका अर्थ यह है कि उन्होंने या तो विष्णु को या शिव को अपना परम देवता स्वीकार कर लिया था अथवा उसे ही एकमात्र देवता मानते थे। अन्य देवता उस परम सत्ता की गौण अभिव्यक्ति थे। इनकी स्थिति ऐसी ही थी जैसी कि रोमन कैथोलिक जनों के मन में साधुओं एवं फरिश्तों की थी। इस प्रकार वैष्णव शिव के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता और उसका विश्वास है कि अनेक देवताओं में से एक वह भी है जो विष्णु अथवा उसके नियन्ता ब्रह्मा की सृष्टि अथवा उत्पत्ति है। इसी प्रकार शैव विष्णु को शिव रूप मानते थे। यदाकदा दृष्टिकोण के इस भेद से मतभेदों का और कुछ अंश में अत्याचारों का उदय हुआ, किन्तु हिन्दू धर्म की यह दोनों शाखाएँ संघर्ष करती हुई हर्ष से पल्लवित होती रहीं और उनकी यह धारणा रही कि परिणामी व्याख्या में वे दोनों समान रूप से ठीक हैं। हिन्दू धर्म मूलतः सहनशील है और पृथक करने के स्थान पर आत्मसात करना अधिक प्रिय मानता है। इस हेतु बुद्धिमान वैष्णवों एवं शैवों ने बहुत प्रारम्भ में ही वह स्वीकार कर लिया था कि जिन देवताओं के वे उपासक हैं, वे एक ही ईश्वरीय सत्ता के विभिन्न रूप हैं। स्वर्गीय सत्ता अगणित पार्श्वों की एक हीरक आकृति है। विष्णु एवं शिव दो उसके विशालतम पार्श्व हैं तथा अन्य पार्श्व जिनकी कभी भी उपासना हुई है उन समस्त देवताओं के प्रतिनिधि हैं। कुछ पार्श्व दीर्घ उज्ज्वल तथा अपेक्षाकृत अच्छी आभा के प्रतीत होते हैं। वस्तुतः भक्तजन उसका सम्प्रदाय चाहे जो भी रहा है सम्पूर्ण आकृति की उपासना करता था जो वास्तव में सम्पूर्ण है। अधिक भक्तिवादी हिन्दू अशिक्षित एवं अज्ञानी होते हुए भी मूलतः सदा एकेश्वरवादी रहे हैं। भगवद्गीता में कृष्ण कहते हैं :

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्या चलां श्रृद्धां तामेव विदधाभ्यहम्॥

(जो-जो सकामी भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस-उस भक्त की मैं उस ही देवता के प्रति श्रद्धा को स्थिर करता हूँ।)

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान्॥

(तथा वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त हुआ उस देवता के पूजन की चेष्टा करता है और उस देवता से मेरे द्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगों को निस्सन्देह प्राप्त होता है।) —गीता, अध्याय 7

Scanned by TapScanner

सहनशीलता की इस पृष्ठभूमि के आधार पर यह आश्चर्यपूर्ण नहीं है कि वैष्णव एवं शैव धर्मों को एक रूप देने के प्रयत्न किये गये। इतना पहले जितना कि गुप्तकाल, हिन्दू धर्म की एक पावनत्रयी—त्रिमूर्ति अथवा त्रिधारूप—का उदय हुआ जिसमें ब्रह्मा जो सृष्टिकार थे, विष्णु जो संरक्षक थे और शिव जो संहारक थे, सम्मिलित किये गये। यदाकदा त्रिमूर्ति का सिद्धान्त कुछ क्षेत्रों में लोकप्रिय हुआ था जिसकी घोषणा कालिदास के सुन्दर गीतों में की गई है और जिससे अंग्रेज कवि इमर्सन को कभी एक लोक विख्यात कविता लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी।

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे॥

(हे त्रिमूर्ति, तुम्हें नमस्कार है। तुम सृष्टि के पूर्व प्रकट हुए और उसके पश्चात् अपने तीन गुणों में विभाजित हो गये।)

त्रिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन्।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः॥

(तुम उद्भव, स्थिति और संहार के एकमात्र के कारण हो। अपने तीनों रूपों में तुम अपने महत्त्व की घोषणा करते हो।)

स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिदिवस्य ते।
यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ॥

(तुम्हारे रात्रि और दिवस के परिमाण में समस्त वस्तुएँ जीवित रहती हैं और मृत्यु को प्राप्त होती हैं। तुम्हारी जागृत अवस्था में हम जीवित रहते हैं और तुम्हारी सुषुप्तावस्था में हमारी मृत्यु हो जाती है।)

द्रवः संघात-कठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्रकाम्यं मे विभूतिषु॥

(तुम ही कठोर और कोमल, स्थूल और सूक्ष्म, लघु और गुरु हो। तुम रूप और पदार्थ दोनों ही हो। तुम्हारी शक्ति अकथनीय है।)

त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः।
वेद्यं च वेदिताचासि ध्याता ध्येयं च यत्परम्॥

(तुम ही हव्य और होता हो, तुम ही भोज्य और भोक्ता हो, तुम ही वेद्य और वेदिता तथा तुम ही ध्याया और ध्येय हो।)

—कुमारसम्भव

हिन्दू धर्म के प्रारम्भिक पाश्चात्य अध्येता, हिन्दू त्रयी तथा ईसाई धर्म की त्रयी की समानता से प्रभावित हुए। वास्तव में समानता अधिक सान्निकटीय नहीं है और ईसाई धर्म की पुनीत त्रयी के विपरीत हिन्दू त्रयी वास्तव में कभी ग्राह्य नहीं हुई। समस्त हिन्दू त्रयीवाद तीनों देवताओं में से एक के पक्ष की ओर अधिक झुका, अतएव इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि त्रिमूर्ति के प्रति कालिदास का गीत वास्तव में ब्रह्मा को सम्बोधित किया गया है जिसे यहाँ परमदेव के रूप में माना गया है।

वस्तुतः त्रिमूर्ति एक कृत्रिम उत्पत्ति थी जिसका वास्तविक प्रभाव नगण्य था।

हरिहरि देव एक अन्य समन्वयवाद था (हरि विष्णु का नाम था और हर शिव का), जिसकी मूर्ति के रूप में उपासना की जाती थी और जिसमें दोनों देवताओं की विशेषताएँ सम्मिलित थीं।

हरिहर की उपासना पद्धति का विकास मध्ययुग में हुआ और दक्षिण में भी इसे कुछ सफलता प्राप्त हुई जहाँ विजयनगर के राजाओं में हरिहर मन्दिरों का संरक्षण किया था और वहाँ इस देवता की उपासना आज भी प्रचलित है।

देवी माता

भारत में सभी कालों में देवी माताओं की उपासना प्रचलित रही है, किन्तु हड़प्पा सभ्यता और गुप्तकाल की मध्यावधि में देवियों की उपासना पद्धति ने विद्वानों एवं सम्भ्रान्तजनों का ध्यान कम आकृष्ट किया। केवल

Scanned by TapScanner

मध्ययुग में ही वह उपासना वास्तविक महत्ता की स्थिति तक अन्धकार से बाहर आयी, जबकि उच्चवर्ग के लोगों ने एक बार पुनः नारी देवताओं की उपासना, जो सिद्धान्त रूप में उसकी पत्नियों के रूप में सम्बद्ध थीं, प्रारम्भ की।

देवी 'शक्ति' थी जो अपने पुरुष सहयोगी रूप का बल तथा पौरुष थी। ऐसी धारणा थी कि देव अकर्त्ता एवं अतिश्रेष्ठ था जबकि उसका नारीतत्त्व क्रियाशील तथा अन्तर्गूढ़ था। गुप्तकाल तक देवताओं की पत्नियाँ, जिनका अस्तित्व सदा से स्वीकार किया जाता रहा था और जो प्रारम्भिक देवज्ञानवाद में छायाकृतियां मात्र रह गयी थीं, विशेष मन्दिरों में पूजी जाने लगीं। प्रारम्भिक पाँचवीं शती का पश्चिम-भारतीय शिलालेख किसी मयूराक्षक का उल्लेख करता है :

"राजा का मन्त्री जिसने महत्त्व प्राप्ति हेतु
इस महान भयावह मन्दिर का निर्माण किया।
राक्षसियों से पूर्ण मन्दिर, जो माताओं के लिए पवित्र है,
जो गहन अन्धकार में बड़े जोर से चीखती हैं,
जहाँ कमल के फूल जादू के जोर से उठने वाली
प्रबल आँधियों से हिलते हैं।"

इस समय से आगे देवी माताओं की महत्ता उस समय तक निरन्तर बढ़ती गयी जब तक कि भक्तिमार्ग वैष्णवधर्म की धारा ने मुस्लिम युग के प्रारम्भ में उत्तरी भारत को अपने प्रवाह में नहीं ले लिया और देवी उपासना पद्धति के विकास को अवरुद्ध कर दिया, जो बंगाल तथा असम में अब भी प्रबल है और भारत के अन्य भागों में भी प्रचलित है।

देवी माता का प्रधान रूप शिव की पत्नी का था जिसे उसके परोपकारी पक्ष में पार्वती कहते हैं, (पर्वत की पुत्री) महादेवी, (बड़ी देवी) सती, (स्वामिभक्त) गौरी, (श्वेतांग) अन्नपूर्णा, (भोजन अन्न प्रदान करने वाली) अथवा सामान्य माता (माता तामिल में अग्माई)। अपने क्रूररूप में वह दुर्गा (अगम) के नाम से प्रसिद्ध थी, काली (काले रूप वाली असितांग) और चण्डी (भयानक) भयंकर तामिल युद्ध की देवी 'कोर्रवी' जो युद्धभूमि में आहतों के मध्य नृत्य करती और उनके मांस को खाती थी, अपनी उत्पत्ति में यद्यपि स्वतन्त्र सत्ता रखती है, प्रारम्भ में शक्ति देवी के साथ एकरूप थी।

अपने भयानक पक्ष में उसे बहुधा एक भयानक डाहिन के रूप में चित्रित किया गया जिसके सर्वदा अनेक भुजाएँ हैं और जिनमें वह विभिन्न शस्त्र धारण किये रहती है। उसके भयावह मांस-भक्षी बड़े दाँत, लाल जिह्वा जो मुख से बाहर लपलपाती रहती है और मानव मुण्डों की माला होती है। सिंह उसका वाहन है और कभी-कभी उसे एक सुन्दर एवं सुदृढ़ नारी के रूप में प्रदर्शित किया गया है जो महिषशिर राक्षस का वध, सेण्ट जार्ज और ड्रैगन की भाँति कर रही है। देवी का सर्वाधिक कोमल रूप एक सुन्दर नवयुवती का है जिसे अधिकतम अपने स्वामी शिव के साथ चित्रित किया गया है। अर्द्धनारीश्वर मूर्तिकला सम्बन्धी एक रोचक विकास है। अर्द्धनारीश्वर एक आकृति है जिसमें अर्द्धरूप शिव तथा अर्द्धरूप पार्वती का है जिसमें देवता और उसकी शक्ति का मिलन अभिव्यक्त किया गया है। जिस भाँति शिव की आराधना लिंग अथवा लिंग प्रतीक के रूप में होती है उसी भाँति दुर्गा की पूजा नारी लिंग प्रतीक अथवा योनि रूप में होती है। कथा के अनुसार शिव की पत्नी होने से पूर्व के अवतार में पार्वती दक्ष की कन्या सती थीं और उस समय भी वह महान देवता की पत्नी थीं जब उनके पिता ने उनके दैवी पति से झगड़ा किया तो वे यज्ञ की अग्नि ज्वालाओं में कूद पड़ी और उनकी योनि की भस्म भारत के विभिन्न स्थानों पर गिरी। यह स्थान उसकी उपासना के पवित्र मन्दिर अथवा पीठ बन गये।

अल्पमहत्त्वीय देवता

विष्णु एवं शिव तथा दुर्गा के साथ-साथ अनेक अन्य देवताओं की पूजा प्रचलित थी। वैदिक देवताओं के प्रतिकूल हिन्दू धर्म के नये देवता प्राकृतिक जगत से अब और अधिक काल तक घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित न रह सके, परन्तु उनके विषय की कल्पना भगवान के नर रूप की विचारधारा के समीप थी।

Scanned by TapScanner

उत्तर वैदिककालीन प्रजापति ब्रह्मा का इतिहास शनैः-शनैः ह्रासोन्मुखी था। प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों में वह, और इन्द्र देवताओं में महानतम थे और महाभारत में भी वह महत्त्वपूर्ण था, परन्तु मध्ययुगीन मूर्तिकला में कभी-कभी चतुर्भुज प्रदर्शित किये जाने के उपरान्त भी गुप्तकाल के पश्चात उसकी उपासना बहुत कम हो गयी थी। ब्रह्मा का एकमात्र मन्दिर ही विख्यात है जो आधुनिक अजमेर के समीप पवित्र पुष्कर सरोवर पर है।

वेदों के अगणित सूर्य देवता हिन्दू धर्म में विलीन होकर एक देव बन गये जिसे सामान्य रूप से सूर्य कहा जाता है। गुप्तकाल एवं मध्ययुग में अनेक सूर्य मन्दिर विद्यमान थे। विशेषतः पश्चिमी भारत में जहाँ पर जोराष्ट्रियन प्रभाव अधिक रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य के कुछ उपासकों ने उसे सर्व देवों से श्रेष्ठ मान लिया था।

"वह जिसकी पूजा अनेक देवताओं द्वारा की जाती है जिससे कि वे जीवित रह सकें तथा भाग्यवान व्यक्तियों द्वारा अपने कल्याण के लिए ध्यानमग्न संन्यासियों द्वारा जो अपनी इन्द्रियों का शमन करते हैं, मोक्ष के लिए वह प्रकाशमान, संसार के उद्भव एवं पतन का कारण तुम्हारी रक्षा करे।

"उस सूर्य देवता को प्रणाम है, जिसे दैवी सिद्ध पुरुष अपने सत्य ज्ञान द्वारा समस्त प्रयत्न करके भी पूर्णतः नहीं जान पाये, जिसकी किरणें तीनों लोगों के पोषण हेतु पहुँचती हैं, जिसकी स्तुति देवता, अर्द्ध-देवता एवं मनुष्य करते हैं जैसे ही उसका उदय होता है, जो अपने भक्तों की मनोकामना पूर्ण करता है।"

सूर्य की तुलना में 'चन्द्र' अथवा 'सोम' की—पुल्लिग रूप में—धार्मिक महत्ता अल्प थी। वह शिव का एक प्रतीक होने के अतिरिक्त और कुछ विशेष न था। उसकी कोई स्वतन्त्र उपासना पद्धति न थी। वह नवग्रहों में से एक के रूप में पूज्य था। नवग्रहों की उपासना मध्ययुग में ज्योतिष विद्या के विकास के द्वारा लोकप्रिय हुई और उनके प्रतिनिधि रूप सामान्यतः अनेक सुलभ हैं।

वैदिक देवता 'इन्द्र' की प्रतिष्ठा बहुत कम हो गयी, किन्तु उसे नवीन अधिकार प्राप्त हो गये थे। अपने गजराज ऐरावत पर आसन ग्रहण किये हुए वह विश्व की प्राचीन दिशा का अभिभावक और निम्न स्वर्ग अमरावती का शासक था। एक वैकल्पिक नाम 'शक्र' के अनुसार जो सम्भवतः मूल रूप में कोई भिन्न देवता था, वह प्रारम्भिक बौद्ध धर्म की प्रधान दैवी सत्ताओं में से एक था। उससे बड़ा केवल ब्रह्मा ही था। मध्ययुग तक उसके मन्दिर एवं उपासक बहुत कम रह गये।

'वरुण' जो वेदों का सर्वद्रष्टा देवता था, अपने स्वर्ग स्थान से उतरकर जल का देवता हो गया, किन्तु विश्व की प्रतीची दिशा का अभिभावक वह बना रहा। वरुण की उपासना पहले ही लुप्त हो गयी, यद्यपि तामिल मछुहारे बहुत दिनों तक वरुणाख्य जल देवता की पूजा मत्स्य-शृंग प्रतीक के रूप में करते रहे। जो भी हो, वह देवता स्पष्ट ही एक स्वदेशीय तामिल देवता था जिसने आर्य-अभिधान प्राप्त कर लिया था।

दक्षिण दिशा का अभिभावक 'यम' जो वेदों का मृत्यु देवता था अब भी स्मरण किया जाता था, यद्यपि इस प्रकार बहुत कम कि उसकी पूजा विशेष रूप से की जाती रही थी। उसका कार्य कुछ परिवर्तित हो गया था क्योंकि वह अब स्वर्ग का प्रसन्न मुख स्वामी नहीं रहा था, प्रत्युत मृतकों के कर्मों का कठोर निर्णायक था जो शोधन स्थानों का शासक था, जहाँ मृत-दुष्ट लोग पुनर्जन्म की अवधि तक कष्टोपभोग किया करते थे। एक स्वर्गीय निर्णायक का भाव जो कर्मवाद के अनुसार सैद्धान्तिक रूप में अनावश्यक था, सम्भवतया पश्चिम से आयात किया गया था जहाँ अनेक उपासना पद्धतियों में इसका प्रचलन था। कभी-कभी 'यम' को उसके लिपिक 'चित्रगुप्त' के साथ मृतात्माओं के कर्मों को तुला पर तोलते हुए चित्रित किया है। यह कुछ-कुछ मिस्र के देवता 'थाथ' के समान है।

उदीची दिशा पर 'कुबेर' का शासन था जो मूल्यवान धातुओं, खनिज द्रव्यों, हीरों एवं सामान्य रूप से सम्पत्ति का स्वामी था। यह देवता 'वैश्रवण' उपनाम से संक्षिप्त एवं धूमिल रूप में उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में दृष्टिगोचर होता है और बौद्ध तथा जैन धर्मों में सुविख्यात है। वह हीरक विभूषित 'अलका' नाम की सुन्दर नगरी में निवास करता है जो कैलास के समीप है, और गुह्यकों एवं यक्षों के अपार समूहों पर शासन करता है। साधारणतया उसे वामनाकार उन्नतोदर आकृति में अंकित किया गया है। कभी उसकी उपासना होती थी, किन्तु वह बहुत महत्त्वपूर्ण न थी।

Scanned by TapScanner

'यम', 'इन्द्र', 'वरुण' एवं 'कुबेर' ये चारों देवता 'लोकपाल' अथवा विश्व के अभिभावक कहलाते थे। बाद के ग्रन्थों में मध्यवर्ती चार दिशाओं के अतिरिक्त चार अभिभावक संयुक्त कर दिये गये—'सोम' उत्तर-पूर्व, 'वायु' उत्तर-पश्चिम, 'अग्नि' दक्षिण-पूर्व, एवं 'सूर्य' दक्षिण-पश्चिम। इनमें से अग्नि का देवता अग्नि, महाकाव्यों के युग में भी महत्त्वपूर्ण था, परन्तु उत्तरकालीन कल्पना पर उसका प्रभाव भी समाप्त हो गया। वायु—पवन देव, बाद के माधव सिद्धान्त के अतिरिक्त एक अस्पष्ट और कोमल देवता था।

युद्ध का देवता 'स्कन्द' जिसे कुमार भी कहा जाता है 'कार्तिकेय' और दक्षिण में सुब्रह्मण्य' सम्भवतः मूल रूप में एक अनार्य देवसत्ता था। वह शिव एवं पार्वती का पुत्र था तथा परम्परागत कथा के अनुसार उसका एक मात्र कार्य राक्षस 'तारक' का वध करना था। यह कार्य उसकी महान लोकप्रियता का पर्याप्त कारण नहीं है। ईसाब्द के प्रारम्भ से ही 'स्कन्द' की उपासना उत्तर-भारत में सर्वत्र प्रचलित थी यद्यपि मध्ययुग में इसका कुछ-कुछ ह्रास हुआ। दक्षिण में यह और अधिक महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि इस देवता का नाम और उसके गुण प्राचीन तामिल देवता 'मुरुगां' में आरोपित थे और इस नाम से 'स्कन्द' आज भी तामिल प्रदेश में प्रख्यात है। 'मरुगां' अपने मूल रूप में एक पर्वत-देवता था जिसकी पूजा 'बच्चनलियन' नृत्यों में होती थी, जिनमें वह एक खड्ग हस्त औषधि-विक्रेता के छद्मरूप द्वारा प्रकट किया जाता था। नृत्यकार उसे देवरूप माना करते थे। नवयुवतियों तथा महिलाओं में वह वासना एवं कामोन्माद की उद्दीप्ति किया करता था और स्पष्ट ही 'मरुगां' के नर्तक उसके अबाधित उपासक होते थे। यह तामिल 'मुरुगां' खड्ग से सशस्त्र होता था और युद्धस्थल के मानव-भोजी सहभोजों में अपनी भयंकर माँ 'कोर्रवी' का सहयोग किया करता था। अतएव आर्य—'स्कन्द' प्रायः मयूरारूढ़ एवं षडानन एक सुन्दर नवयुवक के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है।

'गणेश' अथवा गणपति' 'गणों के प्रधान' (शिव के अर्द्ध-देवता सेवकों का एक वर्ग) शिव एवं पार्वती के द्वितीय पुत्र थे और पश्चिम में सर्वाधिक सुविख्यात भारतीय देवसत्ता के रूप में वे सर्वविदित हैं। उनका सिर हाथी का है जिसमें एक दाँत टूटा है और बाहर निकला हुआ उनका स्थूल उदर है और मूषक उनका वाहन है। हिन्दू देवता समुदाय के अत्यन्त उत्तरकालीन देवताओं में उनकी पुष्टि ईसा के पश्चात की पाँचवीं शताब्दी से पूर्व नहीं होती। मध्ययुग से पूर्व उनका महत्त्व अल्प था। इससे स्पष्ट है कि वे आदिकालीन अनार्य गज-देवता का अति जीवित रूप है, परन्तु हिन्दू धर्म में वे सहनशील तथा संस्कृत हो गये हैं। वे बाधाओं के स्वामी (विघ्नेश्वर) हैं और समस्त नवीन कार्यों के प्रारम्भ में बाधाओं तथा कठिनाइयों के अपसरण के हेतु उनकी आराधना की जाती है, साहित्यिक एवं शैक्षिक क्रियाओं में उनकी विशेष रुचि है और वे वैयाकरणों के संरक्षक हैं। पाण्डुलिपियाँ तथा मुद्रित पुस्तकें प्रायः मंगलसूत्र 'श्रीगणेशायनमः' (प्रभु गणेश को नमस्कार) से प्रारम्भ होती हैं। प्रसन्न एवं परोपकारी गज देवता लगभग प्रत्येक हिन्दू द्वारा समाराधित था, आज भी है, चाहे वह वैष्णव हो या शैव। मध्ययुग का एक वर्ग उन्हें अपना प्रधान देव मानता था, परन्तु उस देवता की स्थिति तुलनात्मक रूप में प्रायः दीन, परन्तु महत्त्वपूर्ण रही है।

'हनुमन्त'—वानर देवता, पवनपुत्र एवं राम के मित्र तथा सेवक निस्सन्देह देवसमूह के अन्तर्गत प्रविष्ट होने से बहुत पूर्व ही एक लोकप्रिय देवता था। वह आज भी एक महत्त्वपूर्ण ग्राम देवता है जो समाधिक मानव शरीर के साथ एक वानर रूप में पूजे जाते हैं। एक हितकर अभिभावक देव हैं जिनके सम्मान के कारण सामान्यतः समस्त वानर पवित्र एवं पूज्य माने जाते हैं।

कामदेव 'काम' (कामना) अनेक अन्य अभिधानों एवं उपाधियों से विख्यात एक भारतीय प्रेम-देवता था। अपने यूरोपीय सहयोगी प्रतिरूप की भाँति धनुर्बाण धारण किये एक सुन्दर नवयुवक के रूप में उसे चित्रित किया जाता है, परन्तु भारतीय प्रेम-देवता का धनुष मधुमक्खियों की पंक्ति से शिंजिनीकृत इक्षुदण्ड का बना हुआ है और उसके शर पुष्पशर हैं। अप्सराओं का एक समूह उसकी सेवा में रहता है। उनमें से एक अप्सरा उसका ध्वज वहन करती है जिसमें समुद्री-दैत्य का चिह्न अंकित होता है। आदि-प्रलय से उत्पन्न प्राणधारी के रूप में काम का उल्लेख सृष्टि सूक्त तथा अन्य वैदिक मन्त्रों में हुआ है, किन्तु यह 'काम' निश्चय ही हिन्दुओं का प्रेम-देवता नहीं है। वह सार्वभौम कामना का मानवीकृत रूप है। इन प्रारम्भिक सन्दर्भों की पुष्टि के आधार पर सामान्य रूप से हिन्दू धर्म के आध्यात्मवादियों में यह विशवास प्रचलित था कि काम के माता-पिता नहीं हैं, वरन् समय के आदि में विश्व की प्रक्रिया के अन्तर्गत उत्प्रेरक के रूप में आचरण करने के हेतु स्वभावतः उसका उद्भव हुआ है। उसके पुष्पशर देवों एवं मानवों पर समान रूप प्रभाव करते हैं और अपने प्रयोजन

Scanned by TapScanner

में केवल एक बार ही असफल हुए कहे गये हैं—जब काम ने महादेव शिव में वासना को उद्दीप्त करना चाहा, फलतः आत्मोत्पीड़न के निमित्त उसे भस्म कर दिया गया। उसकी प्रिय पत्नी देवी 'रति' की निरन्तर प्रार्थनाओं के उपरान्त ही उसे पुनः जीवन दिया गया। साहित्य में पुनः-पुनः उसका उल्लेख हुआ है और वह नवयुवक तथा नवयुवतियों का स्पष्ट ही एक सर्वाधिक प्रिय देवता था, जिसका एक वार्षिक उत्सव में अभिनन्दन किया जाता रहा है। बौद्धों के 'मार' को कभी-कभी काम से एकरूप किया गया है, परन्तु उसके गुण पापमय थे। वह एक प्रकार का शैतान था। सांसारिकता, काया सौन्दर्य तथा असुरता का मानवीकरण था। बौद्ध कथाओं में उसका महात्मा बुद्ध को प्रलोभन में डालना सर्वाधिक विख्यात घटना है।

समस्त देवताओं की अनुपूरक देवियाँ थीं जो उनकी पत्नियाँ थीं, परन्तु उनमें से अधिक अपने स्वामियों की कान्तिहीन छायामात्र हैं जिनके नाम स्त्री प्रत्ययों से संयुक्त उनके पतियों के ही नाम हैं (इन्द्राणी, ब्रह्माणी आदि)। बहुधा उनकी उपासना समूहों में होती थी। सामान्य रूप से सात के समूहों में और जिनके साथ कभी-कभी कार्तिकेय एवं गणेश देवता भी सम्मिलित कर लिये जाते थे। मध्ययुग की मूर्तिकला में इन देवियों (मात्रिका, अंबिका) की प्रतिमा में भली प्रकार बहु-प्राप्य हैं। दुर्गा के साथ-साथ जिसे हिन्दू धर्म के तीन प्रधान देवताओं की समकक्षा निश्चित रूप से प्राप्त हैं, कुछ और देवियाँ भी महत्त्वपूर्ण थीं।

'लक्ष्मी' (समृद्धि) जो विष्णु की पत्नी थी, प्रायः जिन्हें श्री भी कहा गया है, सौभाग्य तथा सामयिक सुखागम की देवी थी। कुछ कथाओं में विष्णु के साथ उसका सहअस्तित्व स्वीकार किया गया है, किन्तु अन्य कथाओं के अनुसार यह अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ यूनान की प्रेम की देवी 'एफ्रोडाइट' की भाँति समुद्र-मन्थन के समय प्रकट हुई। उसे बहुधा परिपक्व सौन्दर्य की नारी के रूप में चित्रित किया गया है। जो कमलासीन है तथा अधिकतर उसके एक कर में कमल है। दो गज उसके परिचायक हैं जो अपनी शुण्डों से उसके शरीर पर जल की बूँदें छोड़ते रहते हैं। यद्यपि वह कभी किसी विशेष उपासना का आधार नहीं रही, किन्तु उसकी मूर्तियाँ अनेक हैं और एक सहायक देवता के रूप में उसकी पूजा अधिक हुई है। उसके विषय में विश्वास किया जाता है कि विष्णु के अवतार के साथ वह पत्नी के रूप में अवतरित होती है और इस प्रकार वह राम पत्नी सीता, कृष्ण की पटरानी रुक्मिणी और कृष्ण की युवावस्था की प्रिया राधा के रूप में पूजी जाती है।

ब्रह्मा की पत्नी 'सरस्वती' का कला, संगीत तथा साहित्य की संरक्षिका के रूप में स्वायत्त शासिका का अधिकार रहा है। ऋग्वेद में वह एक पावन सरिता थी, परन्तु उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में उसे अल्प महत्त्व की एक निर्जीव अर्द्ध-चेतन धर्मयुक्त देवी 'वाक्' से समन्वित कर दिया गया। एक सुन्दर नवयुवती के रूप में उसे चित्रित किया गया है और प्रायः उसके एक हाथ में वीणा तथा दूसरे में एक पुस्तक होती है तथा एक हंस उसकी परिचर्या में होता है। परम्परा के अनुसार उसने संस्कृत भाषा एवं देवनगरी लिपि का आविष्कार किया। विद्यार्थियों, लेखकों, संगीतकारों ने सदा सरस्वती की आराधना की है और उसकी उपासना आज भी प्रचलित है।

अर्द्ध देवता और आत्माएँ

इन महान देवताओं के अतिरिक्त अल्प महत्त्व के असंख्य देवता थे। प्रत्येक ग्राम का एक स्थानीय देवी-देवता होता था जिसे 'ग्राम देवता' कहते थे जो प्रायः एक अपरिष्कृत आदि-देवता की शक्ति के रूप में किसी पूज्य वृक्ष के नीचे स्थापित होता था। इन उर्वरण शक्ति ग्राम देवताओं में से कुछ ने समीकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यापक प्रियता अर्जित कर ली। स्थानीय देवियों का बहुधा दुर्गा के साथ तादात्म्यीकरण कर दिया गया था, किन्तु वे कभी पौराणिक कथा क्रम में सम्पूर्णतः सम्मिलित नहीं की गयी थीं और न उन्हें पति प्रदान किये गये थे। उन्होंने परम्परागत देववर्ग में अपनी स्वायत्त सत्ता सुरक्षित रखी। इन देवियों में शीतला (ठण्डी) प्रधान थी जिसे तामिल प्रदेश में मार्याम्मी (मातामृत्यु) कहते थे। यह चेचक की देवी थी जिसकी आराधना उस रोग की रोकथाम तथा मुक्ति के हेतु होती थी। अपनी सन्तान की ओर से विशेषतया माताएँ उसकी पूजा किया करती थीं। इसी भाँति की एक सर्प देवी 'मनसा' सर्पदंश से रक्षा करती थी। इसी प्रकार का एक पुरुष देवता 'अय्यार' तामिल प्रदेश के ग्राम में प्राचीनकाल से लोकप्रिय था जो मंगलकारी अभिभावक देवता था और कृषिकजन जिसका अत्यधिक मान करते थे। इसे कभी-कभी शिव का पुत्र माना गया है।

Scanned by TapScanner

प्राचीन भारत के नगरों के भी विशुद्ध ग्राम जगत के समान ही अभिभावक देवता थे जो सम्भव है देव समुदाय के महत्त्वपूर्ण सदस्य रहे हों, परन्तु बहुधा केवल स्थानीय महत्त्व के ही थे। इन स्थानीय देवताओं के अतिरिक्त समस्त संसार अर्द्ध-देवों तथा साधु एवं दुष्ट आत्माओं से परिपूर्ण था।

सर्पात्माएँ जिनका अर्द्ध शरीर मानवीय होता किन्तु पूँछ सर्प की होती; आराधना के अतिप्राचीन अवशेष थे। वे भूमिगत 'भोगवती' नाम की सुन्दर नगरी में निवास करते और एक विशाल कोष की रक्षा करते थे उस कोष का कुछ अंश वे अपने कृपाभाजन मर्त्यों को प्रदान भी किया करते थे। वे पूर्णतः मानव रूप में धारण कर सकते थे और प्राचीन भारत की कई वंशपरम्पराएँ वीर मनुष्य और नागिनी के मिलन से अपना उद्भव मानती हैं। सम्भवतया नागों के पूर्व प्रतिरूप काले रंग के आदिवासी थे जिन्हें भारत में अपना विस्तार करते हुए आर्य लोग मिले थे क्योंकि एक आदि जाति 'नागा' आज भी असम में विद्यमान है, परन्तु सर्पों की उपासना भारत में इतनी व्यापक है कि नागा लोग निश्चय ही प्रारम्भिक नाग पूजा के अधिक ऋणी होंगे।

'यक्ष' जो विशेषकर कुबेर देवता से सम्बन्धित हैं एक प्रकार के वामन अथवा अप्सरा थे जिन्हें ग्रामीणजन पूजते थे। ईसाब्द से पूर्व उनकी उपासना बहु-प्रचलित थी, परन्तु हिन्दुओं के बड़े देवताओं की पूजा की व्यापकता के साथ उनकी महत्ता लुप्त हो गयी, उन्हें मनुष्यों का सुहृदय माना जाने लगा था, परन्तु उनकी नारियाँ कभी-कभी ईर्ष्यालु होती थीं और बच्चों को खा जाती थीं।

'गन्दर्भ' सभी पुरुष थे। उनके नारी सहयोगी रूप अप्सराएँ थीं जो वैदिक युग में जल से सम्बन्धित थीं, किन्तु बाद को स्वर्गान्तरित कर दी गयीं। वे सुन्दर थीं और कामुक भी और तपोलीन ऋषियों को प्रलोभन में डालना उनका विशेष आनन्दमय व्यसन था। इस प्रकार 'अप्सरा मेनका' ने ऋषि विश्वामित्र को लुब्ध किया तथा शकुन्तला को गर्भ में धारण किया जो कालिदास के प्रसिद्ध नाटक की नायिका थी। अन्य अप्सरा जिसकी कथा विख्यात हैं 'उर्वशी' थी जो कालिदास के एक अन्य नाटक की नायिका है, एक मर्त्यराजा 'पुरुरुवा' के प्रति जिसके प्रेम की कथा उतनी प्राचीन है जितना प्राचीन ऋग्वेद। कभी-कभी अप्सराएँ उन देवियों के रूप में प्रकट होती हैं जो युद्धभूमि से मृत-योद्धाओं को स्वर्ग ले जाती हैं कि वे उनके प्रेमी बनें।

अर्द्ध-देवताओं का एक अन्य वर्ग 'विद्याधरों' अथवा स्वर्गीय ऐन्द्रजालिकों का था। वे रहस्यमय प्राणी थे। ऊँचे हिमालय की जादू नगरियों में निवास करते थे। वैदिक मुनियों की भाँति वे आकाश में विचरण कर सकते थे और स्वेच्छा से रूप बदल सकते थे। वे प्रायः मनुष्यों पर कृपालु थे।

ऋषिजन (साधु अथवा दृष्टा) वैदिक मन्त्रों के रचयिता थे और प्राचीनकाल के अन्य किंवदन्तीय ज्ञाता थे जो स्वर्ग भेज दिये गये जहाँ उन्हें देवताओं की समकक्षा की स्थिति का आनन्द प्राप्य था। इनमें से प्रधान सात ऋषि थे—मरीची, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, कृतु एवं वसिष्ठ, जिनका सप्त ऋषि मण्डल के नक्षत्रों से तादात्म्य कर दिया गया। अन्य महत्त्वपूर्ण ऋषि थे 'कश्यप' तथा 'दक्ष' जिन्हें कुछ कथाओं में देवता एवं मनुष्यों का जनयिता कहा गया है, 'नारद' जिन्होंने वीणा का आविष्कार किया और जो संगीत के एक प्रकार के संरक्षक मुनि थे; विश्वामित्र, एक क्षत्रिय जिन्होंने अपनी पवित्रता तथा तपस्या से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया और अनेक कथाओं में जिनका उल्लेख प्राप्त होता है; 'बृहस्पति' देवता एवं दैत्यों के गुरु थे जिन्होंने अपना जीवन वैदिक युग में एक देवता के रूप में प्रारम्भ किया परन्तु जिनकी स्थिति एक ऋषि की स्थिति मात्र रह गयी और जिन्हें बृहस्पति नक्षत्र से एकाकार कर दिया गया; इन्हें दर्शन की भौतिकवादी विचारधारा तथा राज्य-व्यवस्था विज्ञान का जन्मदाता कहा गया है और 'अगस्त्य' जिन्होंने दक्षिणवासियों को धर्म एवं संस्कृति की शिक्षा प्रदान की; ऋषियों से कुछ कम समादर के पात्र सिद्ध थे। वे साधु संन्यासियों का एक ऐसा विशाल वर्ग थे जिन्होंने अपनी पवित्रता के कारण स्वर्ग में अपने लिए स्थान अर्जित कर लिया था।

दुष्टात्माओं में प्रधान थे 'असुर' अथवा 'दैत्य'। वैदिक युग में 'असुर' शब्द कतिपय देवताओं के लिए प्रयुक्त होता था, परन्तु हिन्दू धर्म में इसका प्रयोग उन स्वर्गीय आत्माओं के एकसमूह के लिए होता है जो निरन्तर देवताओं से युद्ध करते रहते हैं और उनकी शक्ति को कभी-कभी कम्पित कर देते हैं, परन्तु पराजित नहीं कर पाते। मनुष्यों के लिए तुरन्त हानि पहुँचाने वाले भूतों एवं पिशाचों के वर्ग थे—यथा 'राक्षस' जिनमें सर्वाधिक विख्यात लंका का दैत्यराज दशमुख रावण था जिसे राम ने पराजित किया और उसका वध कर दिया।

Scanned by TapScanner

किसी राक्षस की उतनी शक्ति नहीं थी जितनी रावण की, परन्तु वे सभी भयानक एवं हानिकारक थे। वे भयानक रूप धारण करते और रात्रि के समय अन्धकारपूर्ण स्थानों में छिपकर रहते थे जिससे वे मनुष्यों को मार सकें और खा सकें अथवा उन्हें कष्ट पहुँचायें। इनमें कुछ कम डरवाने थे पिशाच जिनका सम्भव है नागों की भाँति वन्य जातियों से कुछ भौतिक आधार रहा हो क्योंकि प्राकृत भाषा का एक अति भ्रष्ट रूप उनसे सम्बन्धित था। दैत्यों की यह दोनों जातियाँ अधिकतर विशिष्टवर्गीय दैत्य-वैतालों की भाँति युद्ध-भूमियों, श्मशानों तथा अकाल मृत्यु के स्थानों में मानव शवों पर बहुधा आती-जाती थीं। अन्त में रात्रि प्रेतों एवं भूतों की विचरण भूमि थी ये प्रेत भूत-प्रेत व्यक्तियों की नग्न आत्माएँ थीं जिनकी अकाल मृत्यु होती और जिनके श्राद्ध नहीं किये जाते थे। ये दयनीय प्राणधारी मनुष्यों के लिए अति हानिकारक थे, विशेषकर अपने ही अवशिष्ट सम्बन्धियों के लिए।

हिन्दू पूजा देवताओं एवं अर्द्ध-देवताओं की संतुष्टि तक ही सीमित नहीं थी, क्योंकि समस्त प्रकृति किसी न किसी अर्थ में स्वर्गीय थी। महान एवं पूजनीय व्यक्तियों का जीवन में और मृत्यु के बहुत बाद तक समादर किया जाता था क्योंकि उन्हें ईश्वरीय मस्तिष्क का कुछ अंश प्राप्त था। इस प्रकार तामिल शैव सम्प्रदाय के 63 'नायंगर' और तामिल वैष्णव सम्प्रदाय के 12 'आल्वर' आज भी अर्द्ध-देवताओं की समतुल्य स्थिति का उपभोग करते हैं जैसी कि अन्य महान धार्मिक प्रवक्ताओं को अपने अनुयायियों में प्राप्त थी।

केवल मनुष्य ही नहीं, पशु एवं पादप भी पवित्र थे और आज भी हैं जिनमें वस्तुतः उल्लेखनीय गो है। एक कथा के अनुसार गो (सुरभि) जो समुद्र-मन्थन से प्राप्त हुई, एक रत्न थी और समस्त गो-वंश की जननी थी। गाय के पाँच पदार्थ (पंचगव्य) दुग्ध, दधि, नवनीत, मूत्र एवं गोबर सब के सब में परिशुद्धि की महती शक्ति थी विशेषकर जब उनका योग किसी एक मिश्रण में हो। गो की पवित्रता के अतिरिक्त कोई गो देवियाँ नहीं थीं तथा कथाओं में वर्णित सुरभि एवं कामधेनु गो के निमित्त जिन्हें दुहने से अखिल इच्छाओं की पूर्ति होती थी सम्मानार्थ मन्दिर नहीं थे। जीवित पशु, इसलिए नहीं कि वह किसी देवता का प्रतिनिधि था, वरन् स्वयं अपनी सत्ता के अधिकारस्वरूप आदरणीय था। इसके अतिरिक्त 'वृषभ' शिव का वाहन होने के नाते व्यापक सम्मान का उपभोग करता था। अधिकांश शैव मन्दिरों में नदी की प्रतिमा उपलब्ध होती है और यदाकदा दान द्वारा उसका सम्मान किया जाता है।

गाय के पश्चात सम्भवतया सर्प प्राचीन भारत में अधिकतम सत्कार का पात्र था। किवदन्तीय सर्प 'शेष' एवं 'वासुकि' ने सर्प जाति को प्रतिष्ठा प्रदान की, परन्तु निस्सन्देह उपासना की उत्पत्ति अत्यन्त आदिम आधारों से हुई, क्योंकि विषधर सर्प समस्त संसार में असभ्य जातियों द्वारा मृत्यु एवं उर्वरता दोनों के प्रतीकस्वरूप सम्मिलित है। वर्षारम्भकालीन सर्पों का पूजा-दान, हिन्दू धर्म का नियमित पारिवारिक संस्कार था। बावियाँ सर्पों का सम्मानित निवास-स्थान मानकर पूजी जाती थीं। अन्य पशु, यद्यपि अनेक देवसत्ताओं से सम्बन्धित थे, हिन्दू उपासना पद्धति में विशेष महत्त्व स्थान नहीं रखते थे। वानर आज जिसे कृषकों एवं सीधे-सादे ग्रामवासियों द्वारा भारत के अनेक भागों में सत्कार प्राप्त है, प्रारम्भिक हिन्दू ग्रन्थों में विशेष पवित्र नहीं माना गया है।

समस्त संसार की आदिम जातियों में व्यापक वृक्षोपसना भारत में अति प्रचलित थी और प्रत्येक ग्राम में एक पवित्र वृक्ष अथवा वृक्ष समूह होता था। 'पीपल' अथवा 'अश्वत्थ' विशेष रूप से पवित्र था जिसकी पवित्रता बौद्ध धर्म तक व्यापक थी और 'वट' अथवा 'न्यग्रोध' जिसकी गौण मूल शाखाएँ पृथ्वी तक पहुँच जाती थीं, धार्मिक प्रतीकवाद का बड़ा आधार था। अनेक अन्य वृक्ष भी किसी-न-किसी रूप में पवित्र थे, विशेषकर 'अशोक' जिसकी पूजा नारियाँ सन्तानोत्पत्ति के हेतु किया करती थीं। कुछ पवित्र पौधे भी थे, जैसे 'तुलसी' जो विष्णु को प्रिय होने के कारण आज भी ग्रामीण गृह-प्रांगणों में लगाया और बड़ी सावधानी से पाला जाता है। दो प्रकार की दुर्वाएँ 'कुश' एवं 'दर्भ' वैदिककाल से पवित्र मानी जाती रही हैं। हाँ, वैदिक सोम-क्षुप सर्वथा विस्मृत हो गया था।

प्रत्येक पर्वत अथवा पर्वत शैल पवित्रता की कुछ मात्रा रखता था और हिमालय जो संसार के केन्द्र, मेरु पर्वत का आधार गिरि था विशेष रूप से पूज्य था। मेरु के चारों ओर स्वर्गचुम्बी पर्वतों पर देवता निवास किया करते थे। विष्णु का आवास स्थान बैकुण्ठ सन्तोषजनक रूप में कभी अभिज्ञात न हो सका, परन्तु शिव

Scanned by TapScanner

का पर्वत कैलास मध्य हिमालय के किसी शिखर के रूप में ज्ञात था जो बहुत समय तक तीर्थ-यात्रा का स्थान रहा। अनेक अन्य पर्वत एवं छोटे गिरि भारत के अनेक भागों में अपनी पवित्रता के लिए विख्यात थे। बहुधा शैल शिलाओं तक का, विशेषकर यदि वे लम्बाकार अस्पष्टतः शिव लिंग के समान होतीं, धार्मिक प्रयोजन था। निर्जीव घोंघे का भूगर्भ प्राप्त शृंगमय रूप तथा 'शालिग्राम' विष्णु के एक प्रतीक के रूप में मान्य था।

सरिताएँ भी पवित्र थीं, सत्य ही 'गंगा' जिसका उद्भव विष्णु के पद से हुआ जो आकाश में 'मन्दाकिनी' के नाम से प्रवाहित थी और वहाँ से शिव की जटाओं से पृथ्वी पर उतरी, विशेष रूप से पूज्य एवं पवित्र थी। गंगा प्रायः अपनी विशाल सहायक नदी 'यमुना' के समान स्वतः ही देवी के रूप में मानी गयी। अन्य सरिताएं जो विशेष रूप से पवित्र स्वीकार की गयीं उनमें एक 'सरस्वती' थी जो पृथ्वी के गर्भ से प्रवाहित और गंगा-यमुना के संगम प्रयाग (इलाहाबाद) पर गंगा से जा मिली, मानी गयी। नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी अन्य ऐसी सरिताएँ थीं। कतिपय बड़े-बड़े जलाशय, विशेषतया कैलास के समीप ऊँचे हिमालय में 'मानस' और अजमेर के समीप 'पुष्कर' भी पवित्र थे। कुछ नगर तक दैवीय माने गये थे।

विश्व की उत्पत्ति का सिद्धान्त

हिन्दुओं के सृष्टि विज्ञान का विकास शनैः-शनैः हुआ और अपने अन्तिम रूप में वह बौद्धों एवं जैनों के सृष्टि विज्ञान से सम्भवतया उत्तरकालीन है। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार चक्रान्तर्गत चक्रों में शाश्वत रूप से चलता रहता है। मूल चक्र कल्प है जो ब्रह्मा का एक दिन होता है और जो पृथ्वी के 4320 करोड़ वर्षों के बराबर है। ब्रह्मा की रात्रि भी इतनी ही दीर्घता की है। इस प्रकार 360 दिन एवं रात्रि ब्रह्मा के एक वर्ष का निर्माण करते है और उनका जीवन ऐसे ही दीर्घ शत वर्ष का होता है। अतएव महत्तम चक्र 31,10,40,000 करोड़ वर्ष का होता है जिसके उपरान्त समस्त विश्व अकथनीय विश्वात्मा में उस काल तक लीन रहता है, जब तक अपर सृष्टिकार देव का उद्गम होता है।

प्रत्येक सार्वभौम दिवस में ब्रह्मा देवता सृष्टि की रचना करता है और पुनः उसे विलीन कर लेता है। महानिशा में वह सोता है और समस्त विश्व उसकी काया में एकत्रीभूत हो जाता है जहाँ वह अद्भुत प्रभविष्णुता के रूप में बना रहता है। प्रत्येक कल्प में चतुर्दश गौण चक्र अथवा मन्वतर होते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर 30,67,20,000 वर्ष का होता है और उनके बीच में एक दीर्घ मध्यान्तर होता है। उन अवधियों में संसार की पुनः सृष्टि होती है और नवीन मनु मनुष्य जाति के जनयिता के रूप में जन्म ग्रहण करता है। आजकल हम उस कल्प के सप्तम मन्वन्तर में हैं जिसका मनु वैवस्वत है।

प्रत्येक मन्वन्तर में 71 महायुग होते हैं जिनमें एक सहस्र से कल्प बनता है। प्रत्येक महायुग क्रम से चार युगों में विभाजित होता है। ये चारों युग सत, त्रेता, द्वापर एवं कलि कहलाते हैं। उनकी अवधि क्रम से 4800, 3600, 2400 एवं 1200 देव वर्ष होती है जिनमें से प्रत्येक 360 मानवीय वर्षों के समान होता है। प्रत्येक युग पवित्रता, सदाचार, शक्ति, काया, दीर्घायु एवं सुख के प्रगतिशील ह्रास का प्रतिनिधि होता है। हम इस समय कलियुग में हैं जो परम्परानुसार 3103 वर्ष ईस्वी शतक पूर्व प्रारम्भ हुआ जिसे महाभारत का युग समझा जाता है।

अनेक महाकाव्यीय अवतरणों के आधार पर कलियुग का अन्त, जातियों की अव्यवस्था, प्रतिष्ठित मान्यताओं के विनाश, समस्त धार्मिक कृत्यों के अवरोध तथा क्रूर एवं विदेशी राजाओं के शासन से सुपरिलक्षित होगा। इसके उपरान्त शीघ्र ही जल-प्लावन एवं अग्नि से विश्व का विनाश हो जायेगा। जिन ग्रन्थों का काल ईसाब्द का लगभग प्रारम्भिक युग है उनमें यह विचार बड़ी प्रबलता से संप्रतिपादित किया गया है। इस काल में विदेशी राजाओं का निश्चय ही अधिकांश भारत में शासन था और जैन एवं बौद्ध धर्म जैसी मत-विरोधताओं से प्रतिष्ठित कर्मों की नींव हिल गयी थी। एक प्रारम्भिक कथन के अनुसार महाभारत का युद्ध 900 ईस्वी पूर्व पड़ता है जिसके अनुसार कलियुग 1200 वर्ष, यदि उन्हें मानव वर्ष स्वीकार किया जाये तो इस समय अपनी समाप्ति के समीप होंगे। इस प्रमाण के आधार पर कुछ धर्मप्रिय हिन्दुओं ने विचार किया कि सृष्टि का विलय अत्यन्त समीप था। बाद को सम्भवतया इसी भय से विलग होने के हेतु देव वर्षों का उपाय निकाला गया जिससे सुविधा के साथ विश्व-विलय दीर्घकाल के लिए दूर पहुँच गया। अधिकांश मध्ययुगीन ग्रन्थ बताते हैं कि विश्व-विलय कल्प के अन्तिम चक्र के उपरान्त होता है और एक युग से दूसरे

Scanned by TapScanner

युग का अवस्थान शीघ्रता तथा शान्ति भाव से होता है; अन्यथा कल्कि अवतार की आशा की, जिसमें विश्व का विनाश नहीं पुनरुद्धार होगा, युगों की व्यवस्था से संगति नहीं बैठाई जा सकती। इस प्रकार संसार चक्रों का हिन्दू सिद्धान्त एकसे अधिक सिद्धान्तों का अपूर्ण संकलन है। मन्वन्तर तो विशेषतया इस व्यवस्था में स्वस्थ रूप से ठीक नहीं बैठते। वे निश्चय ही महायुगों से भिन्न किसी अन्य सूत्र से व्युत्पन्न हुए हैं।

चार युगों का सिद्धान्त तुरन्त प्राचीन यूनान के चार कालों का स्मरण कराता है—और वस्तुतः भारतीय युग का कभी-कभी धातुओं के आधार पर नामकरण किया गया है—स्वर्ण युग, रजत युग, ताम्र युग एवं लौह युग। इसी प्रकार चार कालों का एक सिद्धान्त प्राचीन फारस में भी विद्यमान था। ये तीनों व्यवस्थाएँ किसी एक ही सर्वनिष्ठ उद्गम से प्राप्त की गयी हैं।

सृष्टि की क्रिया एक से अधिक पद्धतियों के द्वारा विचार में लायी गयी है। सांख्यवाद और कुछ सामान्य महत्त्व के सम्प्रदायों ने प्रकृति के अस्तित्व को स्वयंसिद्ध रूप में ग्रहण किया जिसका सृष्टिकार ने संसार रचना में उपयोग किया, परन्तु वेदान्त ने, निश्चय ही जो मध्ययुग में सर्वाधिक प्रभावपूर्ण था, यह प्रतिपादित किया कि विश्व का प्रत्येक पदार्थ, आत्मा एवं प्रकृति सभी समान रूप से परमात्मा के स्वयं आत्म-तत्त्व से उत्पन्न हुए हैं। वेदान्त सम्प्रदाय ने सृष्टि के प्रयोजन को विश्वात्मा की लीला कहकर स्पष्ट किया है। विश्व की रचना की, कलाकार के मस्तिष्क से कलाकृति की उत्पत्ति के सादृश्य पर परिकल्पित किया गया है।

आत्मा, कर्म एवं संसार

उपनिषदों के समय में जिसका विस्तार हुआ और बौद्ध तथा जैन धर्म ने जिसे ग्रहण किया वह कर्मवाद का सिद्धान्त भी हिन्दू धर्म का ही एक अभिन्न अंग था। हिन्दू परिभाषा के अनुसार कर्म पूर्व जन्म के कार्यों का अविज्ञात रूप पारिवारिक था और यद्यपि जैन धर्म की भाँति हिन्दू धर्म के अन्तर्गत यह कोई तात्त्विक पदार्थ या श्रेणी न था, यह विचार किया जाता था कि संचय होता है और वह व्ययशील है। कर्म के द्वारा ही अपर जन्म का दैवी, मानवी, पाशविक अथवा राक्षसी शरीर प्राप्त होता था और कोई पूर्व कर्म मनुष्य के चरित्र, वैभव, सामाजिक वर्ग सुख और दुःख के अधीन नहीं था। प्रत्येक सत्कर्म का सुफल—आज हो या कल, सुख होता था और प्रत्येक असत्कार्य का परिणाम दुःख होता था। कुछ हिन्दू दर्शनों ने तो यहाँ तक विचार किया कि कर्म सम्बन्धी एक प्रकार का सन्तुलित लेखा प्रस्तुत करना सैद्धान्तिक रूप से सम्भव हो सकता है।

भाग्यवाद कर्म-विश्वास का एक आवश्यक अंग नही है। हिन्दू विचारधारा में भाग्यवाद की प्रवृत्ति प्रायः दृष्टिगोचर होती है, परन्तु अधिकांश प्रवक्ताओं ने उसका निषेध किया है। हमारी वर्तमान स्थिति अनिवार्य है, किन्तु केवल पूर्वकृत कार्यों द्वारा जन्म कर्म के कारण ही ऐसा होता है। पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण एवं समय की गति से किंचितमात्र भी अधिक मुक्ति हम कर्म के नियम से नहीं पा सकते, किन्तु निर्मम एवं दूरदर्शिता के सहारे हम कर्म का उपभोग अपने लाभार्थ कर सकते हैं।

पुनर्जन्म की प्रक्रिया की व्याख्या हमने कुछ अस्थिरता के साथ की है, किन्तु सभी सम्प्रदायों की सहमति है कि आत्मा नग्न रूप में पुनर्जन्म धारण नहीं करती। उसके साथ एक सूक्ष्म पदार्थ के एक या अधिक आवरण-कोष रहे हैं। कोषों की स्थिति पूर्वकृत सत अथवा असत कर्मों के सन्तुलन पर निर्भर रहती है और नवीन जन्म का निश्चय, आत्मा को परिवृत्त करने वाले कोषों की प्रकृति के द्वारा होता है। पुनर्जन्म का सूक्ष्म शरीर छठी इन्द्रिय मस्तिष्क सहित समस्त ज्ञानेन्द्रियों से वंचित होता है अतएव आत्मा सामान्य रूप से पूर्वजन्म अथवा एक शरीर से अपर शरीर तक की यात्रा का स्मरण नहीं कर सकती। हाँ, अत्यधिक विकसित आत्माएँ कभी-कभी पूर्व-जीवन की स्मृतियों को ग्रहण कर सकती हैं। कुछ सम्प्रदायों ने तो ऐसा करने के लिए एक विशेष प्रकार की पद्धति का सृजन किया है। ब्रह्मा के सम्पूर्ण जीवन की अवधि के अन्तर्गत आत्माएँ पुनर्जन्म के लिए बाध्य हैं, यद्यपि एक महादिवस अथवा कल्प के अन्त में वे केवल अद्भुत शक्ति के रूप में उसकी शरीर को प्रत्यावर्तित हो जाती हैं। ब्रह्मा के शत वर्षों के उपरान्त विश्व के अन्तिम विलय के समय, ब्रह्मा की मृत्यु हो जाने पर विश्वात्मा में विलीन हो जाती हैं और उनके कर्म का निराकरण हो जाता है।

संसार जो एक शरीर से अपर शरीर तक की मात्रा है और जो बहुधा सतत गतिमान चक्र के समतुल्य कहा गया है, अत्यधिक अरुचिकर एवं श्रमपूर्ण है। हिन्दू धर्म में पुनर्जन्म से मुक्ति का भाव, जो लगभग

Scanned by TapScanner

समस्त भारतीय विचारधारा में व्यापक है, परम्परा से प्राप्त किया। मुक्ति की अवस्था की कल्पनाएं अथवा मुक्ति और उसे प्राप्त करने के साधनों के सम्बन्ध में विस्तृत भिन्नता थी।